International Journal of Humanities and Social Science Research
www.socialsciencejournal.in
ISSN: 2455-2070
Received: 12-05-2025, Accepted: 11-06-2025, Published: 20-06-2025
Volume 11, Issue 3, 2025, Page No. 149-151

लोकतंत्र में न्यायाधीशों की जिम्मेदारी

अमित वर्मा
शोधार्थी, राजनीति विज्ञान विभाग, ईश्वर शरण पी० जी० कॉलेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश, भारत

सारांश
लोकतांत्रिक शासन प्रणाली में जनता को सर्वोच्च स्थान प्राप्त होता है तथा राज्य की शक्तियाँ विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के मध्य संतुलित रूप से विभाजित रहती हैं। भारतीय संविधान में शासन के तीनों अंगों के मध्य नियंत्रण एवं संतुलन की व्यवस्था स्थापित की गई है, ताकि सभी संस्थाएँ संविधान के दायरे में रहकर स्वतंत्र एवं प्रभावी रूप से कार्य कर सकें। न्यायपालिका को स्वतंत्र, निष्पक्ष एवं विवेकशील संस्था के रूप में मान्यता प्राप्त है, जो न केवल संविधान एवं नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा करती है, बल्कि विधि के शासन की स्थापना में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है । न्यायाधीश न केवल विधि की व्याख्या करते हैं, बल्कि अपने निर्णयों के माध्यम से समाज में समानता, स्वतंत्रता एवं न्याय सुनिश्चित करते हैं। यह शोध प्रपत्र लोकतांत्रिक भारत में न्यायपालिका की भूमिका, विशेषकर समय, परिस्थिति एवं सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप न्यायाधीशों की विस्तारित जिम्मेदारियों का विश्लेषण करता है। लोकतंत्र की स्थिरता और सफलता न्यायाधीशों की सजगता, संवेदनशीलता एवं उत्तरदायित्वपूर्ण आचरण पर अत्यधिक निर्भर करती है, जिसे यह अध्ययन केंद्र में रखता है ।

मूलशब्दः लोकतंत्र, न्यायालय, न्यायाधीश ।

प्रस्तावना
भारत में शासन व्यवस्था तीन प्रमुख भागों में विभाजित है– विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका पर संविधान की सर्वोच्चता बनाए रखने का दायित्व है। स्वस्थ एवं उदार लोकतंत्र में जनता के अधिकारों का विस्तार होता है तथा उन्हें निर्णय–निर्माण प्रक्रिया में भागीदारी का अवसर मिलता है। सुचारु एवं सुगम लोकतंत्र से न्याय की आशाएँ बढ़ती है जिससे न्यायाधीशों की जिम्मेदारी भी अपेक्षाकृत बढ़ जाती है। पिछले कुछ समय से जैसे–जैसे न्यायालयों के अन्दर की बातें बाहर आ रही है, जनता के अधिकारों से संरक्षकों के खिलाफ भ्रष्टाचार, नैतिक दुराचार, राजनीतिक गठजोड़ जैसे मुद्दे भी सामने आएँ है। इसलिए इस बात पर चर्चा तेज हुई है कि न्यायालयों के अधीन निगरानी, जाँच, आरोपियों के खिलाफ कार्यवाही की व्यावहारिक व्यवस्था कैसी है तथा न्यायाधीशों को उनकी कार्यप्रणाली व निर्णयों के प्रति जवाबदेह कैसे बनाया जाए क्योंकि सजग एवं पारदर्शी न्यायपालिका ही स्वस्थ, सुदृढ़ लोकतंत्र की नींव तैयार करती है।

उद्देश्य
- न्यायालय की कार्यप्रणाली को समझना।
- बदलते परिवेश में न्यायाधीशों की जिम्मेदारियों को समझना।

शोध प्रविधि
इस शोध प्रपत्र हेतु ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति का प्रयोग किया गया है । अध्ययन में द्वितीयक स्रोत यथा– विभिन्न न्यायिक निर्णयों, विधि आयोग की रिपोर्ट्स, इलेक्ट्रॉनिक एवं प्रिंट मीडिया का उपयोग किया गया है एवं वर्णात्मक और विश्लेषणात्मक अध्ययन पद्धति के माध्यम से न्यायालय एवं न्यायाधीशों की कार्यपद्धति के विविध आयामों का विवेचन किया गया है।

लोकतांत्रिक व्यवस्था का आधार स्तम्भ 'स्वतंत्र न्यायपालिका'
किसी भी लोकतंत्र देश में विधि के शासन, नागरिक अधिकारों तथा प्राकृतिक न्याय की स्थापना हेतु स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका आवश्यक है। संविधान न्यायपालिका को अत्यधिक स्वतंत्रता प्रदान करता है जिससे न्यायाधीश बिना किसी वाह्य दबाव के निर्णय कर सके। लोकतंत्र का मूलभूत तत्व है कि प्रत्येक व्यक्ति को 'न्याय' प्राप्त हो। संविधान की प्रस्तावना में यह स्पष्ट रूप से दिखता है कि न्याय का सिद्धान्त स्वतंत्रता, समता तथा बंधुत्व के सिद्धान्त से अग्रणी है।

न्यायपालिका की स्वतंत्रता की तीन आवश्यक शर्तें है–
1. न्यायपालिका सरकार के अन्य विभागों के हस्तक्षेप से उन्मुक्त हो ।
2. न्यायपालिका के निर्णय व आदेश कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका के हस्तक्षेप से मुक्त हो।
3. न्यायाधीशों को भय या पक्षपात के बिना न्याय करने की स्वतंत्रता हो।

एस0पी0 गुप्ता बनाम भारत संघ (1981) मामले[2] में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि न्यायाधीशों को आर्थिक या राजनीतिक शक्ति के सामने सख्त होकर 'विधि के शासन' को बनाए रखना चाहिए क्योंकि विधि का शासन वास्तविक सहभागी लोकतंत्र की स्थापना करने, कानून की गत्यात्मकता को बनाए रखने तथा समाज के कमजोर वर्गों को सामाजिक न्याय प्रदान करने में महत्वपूर्ण है।

इतनी महत्वपूर्ण भूमिकाओं के निर्वहन हेतु न्यायाधीशों की स्वतंत्रता के लिए निम्न प्रावधान उपलब्ध है–
- न्यायाधीशों की नियुक्ति में कार्यपालिका को, सर्वोच्च तथा उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीश की सहमति आवश्यक है। न्यायाधीशों को केवल संसद के विशेष बहुमत से पारित संबोधन पर ही पद से हटाया जा सकता है (अनु0 124(4), (5), 217 तथा 218)। न्यायाधीश जाँच अधिनियम (1968) न्यायाधीशों को हटाने के संबंध में प्रक्रिया का उपबंध करता है।
- न्यायाधीशों के आचरण पर संसद या विधानमण्डल में चर्चा नहीं हो सकती ।
- इसी प्रकार, कार्यकाल की सुरक्षा, निश्चित वेतन एवं भत्ते (अनु0 146 के अनुसार संचित निधि पर भारित व्यय), निश्चित सेवा शर्तें, अवकाश प्राप्त करने के बाद वकालत पर रोक, न्यायालय की अवमानना पर दण्ड देने की शक्ति (अनु0

129), मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति में वरिष्ठता के नियम का पालन आदि ऐसे प्रावधान है जो न्यायाधीशों की स्वतंत्रता को सुनिश्चित करते हैं।[3]

बढ़ते अधिकारों के साथ जिम्मेदारियाँ भी बढ़ती है इसलिए न्यायाधीशों के लिए आवश्यक है कि वे इन स्वतंत्रताओं व विशेषाधिकारों का उपयोग समाज के हित में करें। न्यायाधीश का मूल कार्य है स्थापित कानूनों के अनुसार विवादों का निपटारा करना, यद्यपि उच्च व सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश (Judge) 'न्यायमूर्ति (Justice)' के रूप में विधि की व्याख्या भी करते हैं जो लोकतंत्र को सबल बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

लोकतंत्र में न्यायपालिका की बढ़ती जिम्मेदारी

लोकतंत्र एक गतिशील अवधारणा है। समय के साथ बदलते सामाजिक मूल्य, बढ़ती शिक्षा व साक्षरता, सूचनाओं तक लोगों की पहुँच, सामाजिक विविधता, वंचित तबकों का अपने हक़ प्रति जागरूक होना और इन सबके साथ साम्प्रदायिकता, जातिवाद से बढ़ती समस्याएँ न्यायपालिका का जनता के प्रति उत्तरदायित्व बढ़ाती है।

बदलते परिवेश में 1980 के दशक से न्यायाधीशों ने अपनी स्वतंत्रता का व्यापक रूप से उपयोग किया है, अब वे पहले से कहीं अधिक लोकोन्मुख कार्य कर रहे हैं जिस कारण नीति निर्माण, विधि निर्माण में हस्तक्षेप बढ़ा है जो मुख्यतः विधायिका व कार्यपालिका का कार्यक्षेत्र है। जनहित याचिका, स्वतः संज्ञान के विषय, मानवाधिकार संरक्षण जैसे मुद्दों के कारण न्यायिक सक्रियता बढ़ी है, इसे 'नई न्यायपालिका' (New Judiciary) के रूप में देखा जा रहा है। न्यायाधीश कानून तथा समाज के मध्य सेतु का कार्य करते है। न्यायाधीशों के लिए जरूरी है कि वे संवैधानिक नैतिकता का पालन करें। डॉ0 अम्बेडकर के अनुसार, "संवैधानिक नैतिकता से तात्पर्य किसी भी कीमत पर अपने हितों को प्राप्त करने के लिए काम कर रहे विभिन्न समूहों–लोगों के विरोधाभासी हितों के बीच समन्वय करना है।"[4] हालिया कुछ वर्षों में कार्यक्षेत्र में महिलाओं के यौन उत्पीड़न के विरोध में विशाखा गाइडलाइन, एलजीबीटी समुदाय को पिछड़ा वर्ग का दर्जा, भारतीय दण्ड संहिता की धारा–377 (समलैंकिता), धारा–397 (व्यभिचार) को गैर–आपराधिक घोषित करना, तीन तलाक को असंवैधानिक घोषित करना, निजता के अधिकार को मौलिक अधिकार के रूप में स्वीकारना, इण्टरनेट तक पहुंच को मौलिक अधिकार की मान्यता देना आदि फैसले न्यायाधीशों की बढ़ती नैतिक जिम्मेदारी को को दर्शाते है।

समस्यायें एवं सुझाव

न्यायाधीशों की जिम्मेदारी तय करने के संबंध में सीमित एवं जटिल प्रावधानों से विभिन्न समस्यायें परिलक्षित होती है जो कहीं न कहीं लोकतांत्रिक व्यवस्था को चोट पहुँचाती हुई प्रतीत होती है। द्वितीय व तृतीय न्यायाधीश मामले (1993 व 1998) के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय ने न्यायाधीशों की नियुक्ति में तो स्वयं को स्वतंत्र कर लिया लेकिन बंद कमरे में लिए जाने वाले निर्णयों से भाई–भतीजावाद की समस्या उत्पन्न हुई। न्यायाधीशों को 'दुर्व्यवहार' या 'अक्षमता' के आधार पर महाभियोग जैसी प्रक्रिया के द्वारा ही पद से हटाया जा सकता है जो लंबी व जटिल प्रक्रिया है तथा यह राजनीति से अधिक प्रभावित है। सी0 रविचंद्रन अय्यर बनाम न्यायमूर्ति ए0एम0भट्टाचार्जी व अन्य (1995) में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि 'दुर्व्यवहार' की स्थिर परिभाषा नहीं हो सकती।[5] कई न्यायाधीशों (जैसे– जस्टिस वी० रामास्वामी, जस्टिस पी० दिनाकरन, जस्टिस ए० एम० भट्टाचार्जी, जस्टिस यशवंत वर्मा आदि) पर भ्रष्टाचार जैसे गंभीर आरोप लगे है, लेकिन इन्हें पद से हटाया नहीं जा सका । न्यायालय की अवमानना अधिनियम (1971) के भय के कारण भी न्यायाधीशों की स्वस्थ आलोचना नहीं हो पाती जों अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को बाधित करता है । मुख्य न्यायाधीश 'मास्टर ऑफ रोस्टर' (अनु0 145, सर्वोच्च न्यायालय नियमावली के अनुसार) होते है, जिन पर 'चयनात्मक तरीके से' मामलों के आवंटन का आरोप लगता है जिससे निर्णय एक पक्ष के हित में प्रभावित हो सके।[6] यह भी समस्या है कि किसी भी न्यायाधीश के खिलाफ बिना मुख्य न्यायाधीश की अनुमति के आपराधिक प्राथमिकी दर्ज नहीं हो सकती ।[7]

न्यायाधीश विशेषाधिकार सम्पन्न हैं, आवश्यकता यह है कि न्यायाधीशों को न सिर्फ जवाबदेह बनाया जाए बल्कि वे स्वयं आगे आकर अपनी जिम्मेदारी भी निभाएँ क्योंकि लोकतंत्र में शक्ति/अधिकार का स्रोत जनता है एवं सत्ता उपभोगी को स्रोत के प्रति जवाबदेह होना चाहिए। न्यायाधीशों के संबंध में बड़ी समस्या उनकी नियुक्ति नहीं बल्कि गैर–निष्पादन आरोपों में घिरे होने के बावजूद उचित कार्यवाही नहीं होना है। इसलिए आवश्यक है कि न्यायाधीशों पर केवल महाभियोग जैसी प्रक्रिया द्वारा ही कार्यवाही न हो बल्कि छोटी गलतियों पर अनुशासनात्मक कार्यवाही भी हो । इसके लिए न्यायालयों में नियुक्ति आयोग तथा शिकायत आयोग का अलग–अलग गठन किया जाना चाहिए जो त्वरित कार्यवाही करे। साथ ही उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को शिकायत शाखा के आकंड़े स्वयं जारी करना चाहिए जिससे जनता को ज्ञात हो सके कि किन न्यायाधीशों की खिलाफ गंभीर आरोप लगे थे व उनके समाधान हेतु क्या कार्यवाही की गयी है। मुख्य न्यायाधीश को 'मास्टर ऑफ रोस्टर' शक्ति का प्रयोग विवेकपूर्ण ढंग से करना चाहिए। इसके अतिरिक्त न्यायाधीशों के 'निष्पादन मूल्यांकन' का भी प्रावधान अपेक्षित है। 'न्यायिक जीवन के मूल्यों के पुनर्कथन'(1997) को व्यापक बनाते हुए कानूनी रूप से प्रभावी बनाना चाहिए तथा न्यायालय में कार्यपालिका के हस्तक्षेप की आशंका दूर करते हुए 'न्यायिक मानक एवं जवाबदेही विधेयक' पुनः पारित करना चाहिए। न्यायिक निर्णय तटस्थ बनाये रखने के लिए 'पोस्ट रिटायरमेंट बेनिफिट्स' को नियंत्रित करना चाहिए व 'कूलिंग ऑफ पीरियड' का निर्धारण करना चाहिए।[8]

लोकतंत्र को जीवन्त बनाए रखने में न्यायपालिका सबसे प्रमुख कड़ी है और इस कड़ी को जोड़ने वाले न्यायाधीश का जवाबदेह व जिम्मेदार होना आवश्यक है। भारत में जहाँ जनता को विधायिका, कार्यपालिका की अपेक्षा न्यायपालिका में ही सर्वाधिक विश्वास है वहाँ न्यायाधीशों की जिम्मेदारी भी तय की जानी चाहिए इसके लिए पारदर्शिता बढ़ानी होगी। आज जब 'चिलिंग इफेक्ट' (जहाँ अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को दण्डित किया जाने लगे, जिसके भय से व्यक्ति अपने विचार अभिव्यक्त न कर पाए) का बढ़ता प्रभाव, 'सारवान विभेद के सिद्धान्त' के अनुपालन में असंगतता, कई मामलों में 'कार्यपालिकीय न्यायपालिका' की तरह व्यवहार, धन के बल पर न्याय, महिला उत्पीड़न जैसे मुद्दे केन्द्र में है तो न्यायाधीशों की जिम्मेदारी स्वयं ही और बढ़ जाती है कि वे न्यायपालिका में जनता का विश्वास कम न होने दे तथा अपनी आन्तरिक तथा वाह्य कार्यप्रणाली में सुधार करें। फ्रांसिस बेकन के अनुसार, "न्यायाधीशों को मज़ाकिया से अधिक प्रबुद्ध, प्रशंसनीय से अधिक श्रद्धेय और आत्मविश्वास से अधिक विचारपूर्ण होना चाहिए ।"[9] न्यायाधीशों से अपेक्षित है कि वे अपने व्यवहार व निर्णयों से संवैधानिक सिद्धान्तों तथा विधि के शासन को सर्वोपरी बनाए रखते हुए स्वयं को जनता के प्रति अधिक से अधिक जिम्मेदार बनाएँ जिससे लोकतंत्र की प्रमुख विशेषता 'चर्चा की संस्कृति' बनी रहे ।

सन्दर्भ सूची

1. https://www.drishtiias.com/hindi/daily-news-analysis/principle-of-independence-of-the-judiciary
2. एस० पी० गुप्ता बनाम भारत संघ AIR 1982 SC 149
3. लक्ष्मीकांत, एम०. भारत की राजव्यवस्था. मैकग्राहिल प्रकाशन. चेन्नई. 2016.

4. Constituent Assembly Debates. Speech by Dr. B. R. Ambedkar introducing the draft Constitution. Government of India,1948:7:38.
5. सी० रविचंद्रन अय्यर बनाम न्यायमूर्ति ए०एम०भट्टाचार्जी व अन्य,AIR 1995 SC 2348
6. Scroll Staff. "'Democracy is in Danger': Watch the Historic Press Conference Held by Four Supreme Court Judges." Scroll.in, 2018, https://scroll.in/video/864863/democracy-is-in-danger-watch-the-historic-press-conference-held-by-four-supreme-court-judges. Accessed, 2025.
7. Supreme Court Observer. (n.d.). Master of the Roster: Securing process legitimacy of the Supreme Court. Supreme Court Observer. Retrieved, 2025, from https://www.scobserver.in/75-years-of-sc/master-of-the-roster-securing-process-legitimacy-of-the-supreme-court/
8. Supreme Court of India. Restatement of Values of Judicial Life. Full Court Resolution, 1997.
9. Bacon, Francis. Essays, Civil and Moral. In: Charles W. Eliot (Ed.), The Harvard Classics. New York: P.F. Collier Son, Essay 56: Of Judicature,1909:3:137-139.